शिक्षा संवाद
2022, 9 (1-2): 38-47
ISSN: 2348-5558
©2022, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

आलेख

अस्मिता, भाषा और सत्ता

वीरेंद्र कुमार चंदोरिया
शिक्षाशास्त्र विभाग
इलाहबाद विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश
ईमेल –chandoriakr@gmail.com

सार

देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं के अस्तित्व संबंधी मुद्दे, भाषा की हैसियत से जुड़े सवाल जिनमें भाषा का समाज-सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रभाव भाषा की गतिशीलता, भाषायी वर्चस्व, भाषा और उसके साथ जुड़ी हुई अस्मिता तथा भाषा का राजनीतिकरण, भाषा को एक ऐसा आधर प्रदान करते है जो सतत परिवर्तनीय और बहु-आयामी हो सकता है। इतना ही नहीं इससे इत्तर भी भाषा के साथ जुड़े हुए ऐसे विषय है जैसे भाषा के धूरवीकरण, वैश्वीकरण तथा भाषा का उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद, एवं नव- उदारवाद के साथ रिश्ता, जो हमें भाषा को एक नए ढंग से समझने के लिए प्रेरणा देते रहे है। यदि भारतीय परिवेश और समाज के संदर्भ में बात करे तो भाषा का सवाल महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी बुनियाद स्कूल में है, चूंकि भारत एक बहुभाषिक और बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र है इस नाते देश की शिक्षा पद्धति के समक्ष विभिन्न भाषाओं और उनसे जुड़े प्रश्न कई चुनौतियाँ प्रस्तुत करते है। स्कूल एक संस्थानिक हैसियत रखने वाली संस्था होती है इसलिए इस क्षेत्र में क्या, कैसे और किस प्रकार होता है उसे भी अनदेखा नहीं किया जा सकता और इसे अधिक गहराई से जाँचने की जरूरत है। दरअसल भाषा के साथ अस्मिता तथा व्यक्तित्व की धरणाएँ जुड़ी होती है तथा कक्षाओं में हमने पाया है कि शिक्षक जाने-अनजाने अपनी पूर्व धरणाओं के साथ कक्षाओं में आते हैं जिनमें वह तमाम धरणाएँ विश्वास और मूल्य समाहित होते है जिसकी तलहटी में वर्गों, जातियों, समुदायों को ढूँढा जा सकता है जो ज्यादातर आपसी सम्बन्धें में व्याप्त होते है। परिणाम स्वरूप भाषा सत्ता, पहचान और राजनीति के एक ऐसे उपकरण के रूप में कार्य प्रयुक्त होने लगती है जो हमे एक करने के बजाए अलग करने लगती है। प्रस्तुत पर्चे का मूल उद्देश्य इन्ही समीकरणों की तलाश करना है।

कूटशब्द : अस्तित्व, भाषा, सत्ता, स्कूल, पाठ्यक्रम

शिक्षा संबंधी बहसों के मुद्दे अक्सर भाषा से इत्तर इतिहास, राजनीति विज्ञान एवं समाजविज्ञान के संदर्भ में चर्चा होती है और वह भी पाठ्यपुस्तकों पर केन्द्रित कि इनविषयों के शिक्षण के लिए निर्मित पाठ्यपुस्तकें राजनीति, दलगत राजनीति, सेप्रेरित हैं। लेकिन भाषा शिक्षण के संदर्भ में राजनीति के सवाल पर अक्सर चुप्पीनजर आती है। यह मान लिया जाता

है कि भाषा शिक्षण में क्या राजनीतिहोगी! इसलिए भाषा शिक्षण के नजरिए और विषयवस्तु को राजनीति सेजोड़कर देखने के प्रयास भी कम ही हुए हैं। हमे लगता है कि भाषा के शिक्षणको भी राजनैतिक व्यवस्था के संदर्भ में समझा जाना अपेक्षित है। यदि तर्कतःसमझने की कोशिश करे तो, यदि भाषा का शिक्षण शिक्षा व्यवस्था का अंग है और शिक्षा व्यवस्था राज्य की राजनैतिक सोच का अंग है तो लाजमी तौर परभाषा के शिक्षण को भी राजनैतिक सोच से संबद्ध होना चाहिए अर्थात्, इसनजरिए के अनुसार, किसी भाषा का शिक्षण तानाशाही राज्य तथालोकतांत्रिक राज्य में भिन्न होना अपेक्षित है। उदाहरण के लिए, किसी ऐसे देशपर विचार करें जहां किसी धर्म के आधार पर राजनैतिक व्यवस्था की रचनाकी गई हो। ऐसे देश के स्कूलों में भाषा की पढाई से मुख्यतः दो उम्मीदें की जासकती हैं। पहली यह कि भाषा की पढाई के नाम पर उस धर्म की मान्यताएंबताई जाएं पर उनका विश्लेषण नहीं किया जाए। यानी, उस धर्म कीमान्यताओं को आलोचनात्मक चिन्तन के दायरे में लाए बिना उन पर विश्वासकरना सिखाया जाए। दूसरी उम्मीद यह की जा सकती है कि उस धर्म को संदेहके घेरे में लाने वाली बातें भाषा की पढाई का हिस्सा ही न बनें। इन दोनों ही उम्मीदों का शिक्षणशास्त्रीय पहलू यह है कि शिक्षार्थी भाषा काउपयोग याद करने तथा याद किए को व्यक्त करने तक सीमित रखें।ऐसा इसलिए क्योंकि ऐसे देश में माना जाएगा कि पाठों में बताईगई बातें अनिवार्य हैं और इस कारण वे पुनर्विचार से परे हैं। इसकेविकल्प में लोकतंत्र को चाहने वाले देश में दी गई बातों को यादकरने से आगे बढ़कर उन्हें संदर्भ के साथ समझने और जोड़करदेखने की होगी। (रावत,2006)

आमतौर पर स्कूलों में ऐसी पद्धतियां अपनाई जाती हैं जो चिन्तनको हतोत्साहित करती हैं या जिनसे चिन्तन हतोत्साहित हो जाताहै। उनमें से एक पद्धति है तथ्यों और सूचनाओं को अधिक महत्त्वदेते हुए उनके रटने पर जोर देना। यह इस खतरनाक अंधविश्वासपर टिका है कि अधिक तथ्यों के मालूमात होने से ज्ञान हो जाताहै। अनेक छितरे और असंबद्ध तथ्यों को शिक्षार्थियों के दिमाग मेंइकट्ठा कर लेने भर से मान लिया जाता है कि उसे अमुक विषयका ज्ञान हो गया है। बच्चों का समय और शक्ति तथ्यों को रटने में ही चुक जाती है। उनके पास सोचने के लिए बहुत कम समय औरऊर्जा बचती है। निश्चित तौर पर तथ्य रहित चिन्तन काल्पनिकहोता है, लेकिन सूचना चिन्तन की राह में उतनी ही बाधक होतीहै जितना इसका अभाव (फ्राम, 2001, पृष्ठ 214)।

दरअसल लोकतंत्र एक संवाद है। विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि स्थितियों में संवाद स्थितियों के प्रति बदलतीसमझ संवाद को गति देती है। अलग-अलग स्थितियों के बीचपनपने वाले सूत्र संवाद को ऊर्जा प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति

को ध्यान में रखकर चलने वाली शैक्षिक प्रक्रिया शिक्षार्थियों के बीचसंवाद को जन्म देती है। ऐसी प्रक्रिया में शिक्षक तथा शिक्षार्थी केबीच संवाद के पनपने की गुंजाइश होती है। संवाद के लिएअनिवार्य शर्त है कि बात के संदर्भों को केंद्र में रखा जाए। भाषाके संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण विचार शब्द के अर्थ को संदर्भाधारितमानता है। उदाहरण के लिए, इस वाक्य पर विचार करें- ‘‘खुशकिस्मती से हाथी ज्यादा दूर तक तेज नहीं चल सकते।’’ जब तक संदर्भ नपता हो तब तक इस वाक्य का अर्थ निकालना मुश्किल है। अगरउपरोक्त वाक्य सेपहले कहा जाए- ’’हाथी के बच्चे बड़ों के साथचलने का भरसक प्रयास कर रहे हैं‘‘, तभी पहले वाक्य का अर्थस्पष्ट होगा। लेकिन यदि बात यह हो कि- ’’एक हाथी के पीछे बीसचोर पड़े हैं। खुशकिस्मती से हाथी ज्यादा दूर तक तेज नहीं चल सकते‘‘, तो अर्थ में परिवर्तन आ जाएगा। क्योंकि संदर्भ बदल गयाहै। इसलिए, अर्थ तक पहुंचने के लिए संदर्भ पर विचार करनाआवश्यक है।दरअसल हमारा यह उदाहरण भाषाई ज्ञान से जुड़ा है जो हमें भाषा के भीतरी अर्थ को समझने में सहायता देते हैं (रावत,2006)।

संवाद की यह अवस्था एक ऐसी स्थिति में कमजोर होती है जब संदर्भ के आयाम कमजोर हो या फिर उन्हे ऐसी भाषा से जोड़ा जाए जो अबोध हो, एक उदाहरण लीजिये

दिल्ली के सरकारी स्कूल से इंटरमिडियेट की शिक्षा पूरी करने के बाद दिनेश ने दिल्ली के एक विश्वविद्याल में एएम.एड. विषय में दाखिला लिया. विषय को ठीक से समझने और उसे व्यक्त करने के कारण और अंग्रेजी में हाथ तंग होने के कारण दिनेश ने हिन्दी को परीक्षा के माध्यम के रूप में चुना, लेकिन विश्वविद्याल के नियमानुसार कक्षा का माध्यम अग्रेजी ही रहा, तब तक दिनेश इस बात से अनजान था कि भाषा की भूमिका अभिव्यक्त की सुविधा ही सिर्फ़ नहीं है. शुरुआती दिनों में हिन्दी की पुस्तकों पर आश्रित रहने के बाद पहले ही सेमेस्टर में दिनेश ने अंग्रेजी की भी पुस्तकों का उपयोग किया. दूसरे सेमेस्टर में दिनेश ने सिर्फ़ अंग्रेजी की पुस्तकों का सहारा लिया लेकिन परीक्षा में रीमिक्स यानी हिंग्लिश का प्रयोग किया. दिनेश का नतिज़ा पिछले समेस्टर से बेहतर था. यह किस्सा इसलिये नहीं बताया कि अंग्रेजी के प्रयोग ने दिनेश के अंक को बढ़ा दिया. बल्कि इसलिये कि उसकी समझ में धीरे धीरे आना शुरु हो गया था कि हिन्दी को माध्यम के रूप में उपयोग करने वाले के लिये एएम.एड. उतना स्पेस नहीं दे सकता. स्नातकोत्तर का दूसरा सेमेस्टर उसके प्रथम सेमेस्टर से भी अधिक संघर्षपूर्ण रहा. विषय की सभी शाखाओं के रीडिंग पैकेज अंग्रेजी में थे और उसके जैसे बहुत से छात्रों को

यह मान कर चलना था कि उन्हे इसी माध्यम में चीजों को पढना होगा बेहतर अंक और समझ के लिये. यहां से नयी जद्दोजहद शुरु हुई. पहले रीडींग को पढना, पहले पाठ में केवल अंग्रेजी के जटील शब्दों के अर्थ को जानना, दुसरे में अर्थ को संदर्भ में समझने की कोशिश करना, तीसरे में यह समझना की रीडींग किन पहलुओं को उजागर कर रहा है और चौथे में निहितार्थ समझना. अब सोचिये कि जिस पाठ को अंग्रेजी माध्यम के छात्र एक बार में समझ सकते थे उसे दिनेश को चार बार में समझना पड़ता था. और यह समझ भी संतोषजनक नहीं थी क्योंकि अपरिचित भाषा से प्राप्त ज्ञान कितना सुदृढ़ होगा ? प्रथम सेमेस्टर में हिन्दी माध्यम के अधिकांश छात्र फ़ेल हुए, विवशता में अंग्रेजी को अपना माध्यम बनाये छात्रों में से एक उसकी स्थिति भी अच्छी नहीं थी. पहले से दूसरे सेमेस्टर तक हिन्दी माध्यम के अधिकांश विद्यार्थी या तो इस विषय को छोड़ चुके थे या किसी तरह संघर्षरत थे, पचपन प्रतिशत बनाने के लिये क्योंकि एम.फ़िल. प्रवेश या नोकरी की यह न्युनतम अहर्ता होती है. अब उनका संघर्ष विषय को समझने का नहीं बल्कि अध्ययन को जारी रखने का था. यह पूरा दोष भाषा का नहीं है. परंतु यह प्रश्न तो है कि क्या अधिकांश हिन्दी माध्यम के छात्र कमजोर थे ? वे प्रतिभाशाली नही थे या उनकी असफ़लता का कारण भाषा भी थी. भाषा का यह भेद भाव नया नहीं है.

दिनेश का यह उदाहरण इस बात का द्योतक है कि कैसे आखिर भाषाई सत्ता विशेष प्रकार के ज्ञान का उत्पादन करती है, जो किसी एक खास भाषा के ज्ञान और उसके व वर्चस्व को कायम रखने में मदद करे.

अगर आप थोड़ा ठहर कर विचार करें तो आप उस और अभिमुख हो सकते हैं जहां से आप भारतीय भाषाओं और हिन्दी के रिश्ते को इसी वर्चस्व वाले धरातल पर आंक कर देख सकते है। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्चस्व के संबंद में जैसा रिश्ता अंग्रेजी का हिंदी से है ठीक वैसा ही रिश्ता हिंदी का भारतीय भाषाओ से है और अलग अलग भाषाओं का अन्य भाषाओं से भी है। इसका भी उदाहरण देखें-

रिहाना और सुधाकर महाराष्ट्र- कर्नाटक के सीमावर्ती क्षेत्र में कर्नाटक की ओर रहते हैं। इनके परिवार में घर पर सभी मराठी में ही बोलते हैं। ये दोनों एक सरकारी स्कूल में पढ़ते है जहाँ सभी विषय कन्नड़ में पढ़ाये जाते हैं।

स्कूल में रोजाना लगने वाली कक्षाये कन्नड में ही हो इस बात का ख्याल रखा जाता है । इस स्कूल में विरले ही कभी मराठी सुनी जाती हो। वे अपने आप को उस माहोल से अलग और डरा हुआ महसूस करते हैं। उनके परिवार में मनाये जाने वाले त्योहार उनके स्कूल में नहीं मनाये जाते, जैसे उगड़ी। वे बताते है कि प्राय: उन्हे ये महसूस होता है कि उनके परिवार की भाषा व रहन-सहन महत्वपूर्ण नहीं है क्योकि वह स्कूल के अनुसार नहीं है।

दिनेश और रिहाना व सुधाकर की समस्याका मूल एक ही है, इस संबंध में हमे अपने आप से भाषाई पहचान के संबंध में यह प्रश्न करने चाहिए की

- दिनेश को अपनी पढ़ाई जारी रखने और एक ऐसी भाषा में समझ बनाना जो उसकी नहीं है, के लिए इतना संघर्ष क्यो करना पड़ रहा था?
- कर्नाटक के स्कूलों में मराठी माध्यम से और महाराष्ट्र में कन्नड भाषा में पढ़ाई की आज़ादी क्यो नहीं है?
- क्या आप अन्य भाषाओं के संबंध में भी कोई उदाहरण याद कर सकते हैं?
- यह स्थिति विचरण करने वाली आबादी के बच्चों की पहचान को कैसे खत्म कर देती है?
- आप को यह भी विचार करना चाहिए कि समकालीन वैश्विक संदर्भ में क्यो अंग्रेजी की इतनी मांग बढ़ी है ?

वास्तव में भाषा ज्ञान की पद्यति अक्षरमाला से शुरू होती है और जब बच्चा स्कूल की रहस्यमयी दुनिया में कदम रखता है तो उसके द्वारा सीखे जाने वाले पहले शब्द उसके भाषायी और सामाजिक संस्कार बनाते हैं और यदि वे संस्कार किसी एक खास प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करें तो वह शब्द ऐसे राजनैतिक और सामाजिक संस्कारों का निर्माण करते हैं जिनकी उपयोगिकता बेहद संदिग्ध् होती है और यदि भाषायी दृष्टि से कहा जाए तो रूढ़ शब्दों का प्रयोग निर्दोष नहीं हो सकता जो कि अक्सर हमारी चर्चा का हिस्सा बन चुकी है।

भाषा का ऐसा ही रूप इतना रूढ़ हो चुका है कि वह कई बार अलगाव, विषमताओं और प्रभुत्ववादी धरणाओं का निर्माण करता है, वाक्-पटुता तथा शब्द जाल का आडम्बर बहुत तीखा और कई मायनों में बहुत दु:खदायी होता है उदाहरण स्वरूप कपड़े धोने वाले

व्यक्ति को उसके पारम्परिक नाम से बुलाने में कोई हर्ज नहीं है परन्तु बुलाने के ढंग में अंतर हो सकता है अर्थात् भाषा का अलगाववादी प्रयोग, शायद इसी भाषा प्रयोग से उस व्यक्ति को चुभता है और दुःख भी होता है, एक और उदाहरण दूँ तो हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों में लगी लक्षमा की कहानी स्कूली लड़कियों में हीन-भावना को पुष्ट करती है, शायद पाठ्यक्रम समिति ने सोचा भी न हो परन्तु उससे उलट आज लड़कियों में लक्षमा नाम को तिरस्कृत और छोटी नजर से देखा जाता है, फिर लक्षमा ही क्यो गीता, चंदरकला, रामकली, मंजु, सुनीता आदि अनेक नाम शब्द ऐसे जिससे लड़कियाँ अपनी पहचान को जोड़ने से अक्सर परहेज करती है, यह फिर वही प्रयोग की दृष्टि से है मसलन नाम में कोई बुराई नहीं परन्तु कहने का सन्दर्भ ही अस्मिता से जुड़ जाता है जो तीखा और दुखदायी हो सकता है। आगे बढ़ने से पहले पाठकों से केवल इतना अनुरोध् आवश्यक है कि वह इस प्रस्तुति के समय संवेदनशीलता जरूर बरते।

भाषाई घेरे में पुष्ट होती वर्गीय संस्कृति जैसा कि मैंने पहले भी कहा की भाषा का आडम्बर और प्रभुत्ववादी स्वरूप बहुत तीखा और दुःखदायी होता है क्योंकि कई बार ऐसे कृत्य और शब्द ठेस पहुंचाते हैं जिससे व्यक्ति तिरस्कृत और दुःखी होता है। मैंने बचपन में एक कहवात सुनी थी कि ‘‘काणें को काणा मत कहो, काणा जायेगा रूठ, चुपके से पूछ ले कैसे गई फूट’’, शायद यह कहावत उस ओर संकेत कर रही है जिसे हम भाषा का व्याकरण कह सकते हैं। कई ऐसी कही और अन कही दास्तान है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वर्ग की संस्कृति का फैलाव एक विशिष्ट भाषाई फैलाव से है जिससे न व्यक्ति अथवा मानसिक स्तर पर भी सघन चोट पहुंचती है भाषा की यह वर्गीय संस्कृति कई बार ऐसे ढंग से वितरित होती है जो अनचाहे भी दुःख पहुंचा जाती है।

> एक बार एक कक्षाई अवलोकन के दौरान मैं पाया कि कक्षा में अध्यापिका पंचायती राज से संबन्धित पाठ पर चर्चा कर रही थी तथा पंचायतों में आरक्षण के विषय में बच्चों को पढ़ा रही थी तभी एक सन्दर्भ के दौरान अध्यापिका ने अनुसूचित जाति और जनजाति के उम्मीदवारों को पंचायत में आरक्षण होने की बात कही, उसी दौरान एक बच्चे ने अध्यापिका से पूछा कि मैडम ये आरक्षण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अध्यापिका ने बताया कि कुल स्थानों में से कुछ स्थानों पर केवल इन्हीं जातियों के लोग चुनाव लड़ सकते हैं, प्रतिउत्तर में बच्चे ने एक और प्रश्न पूछा मैडम ये कौन होते है; अनुसूचित जाति और जनजाति के लोग ? तब अध्यापिका ने बिना किसी हिचकिचाहट से जवाब दिया कि ‘जो

लोग गरीब और नीची कोम के होते हैं' वही होते थे।ऐसे बच्चों को स्कूल से वर्दी, छात्रावृत्ति भी मिलती है ना वही एससी/एसटी।

यहाँ अध्यापिका ने जो कुछ भी कहा वह सही तो नहीं ठहराया जा सकता परन्तु जिस प्रकार कहा गया शायद वह उस कक्षा में बैठे संबन्धित जाति के उन छात्रों के लिए अत्यंत दुःखदायी जरूर रहा होगा तथा उन बच्चों के लिए आवश्यक तौर पर जिन्होंने अपनी समझ बिल्कुल नए रूप बनाई होगी। अध्यापिका को इसके उलट बड़े ही संवेदनशील तरह से इस मुद्दे से निपटना चाहिए था। जिसकी अपेक्षा हम अध्यापिका से कर सकते है। जैसे कि अध्यापिका को चाहिए था कि वे पंचायत इन समुदायों के प्रतिनिधित्व के विषय पर चर्चा कर सकती थी। जिससे स्थिति अधिक सकारात्मक रूप से स्पष्ट हो सकती थी। अक्सर कक्षाई प्रक्रिया में आप पायेंगे कि हम बच्चों को ऐसे बोलने और वैसे न बोलने की नसीहत देते रहते हैं फिर कक्षा ही क्यों हम घर में भी बच्चों से ऐसी ही उम्मीद करते है। अर्थात् हम बच्चों से ऐसी अपेक्षाएँ रखते हैं की वह एक शालीन और स्वच्छ भाषा; मानकद्ध बोले परन्तु हम यह कभी समझ ही नहीं पाते की हमारे बच्चे या हम वही भाषा का प्रयोग करते हैं जो अक्सर उन्हें परिवेशिक सन्दर्भों से मिलती है। परन्तु हम भूल जाते हैं कि बच्चे कि मातृ भाषा/बोली हमें उसके ओर उसको हमारे नजदीक लाती है, और वह उसी भाषा में अपने आप को सहज महसूस करता है। और जब बच्चा अपनी भाषा बोलता है तो हम समझते हैं कि उसकी भाषा दूसरे दर्जे की है तथा फिर उससे धीरे –धीरे वर्ग की बदबू आने लगती है। ऐसा ही एक उदाहरण मैं आपको यहाँ देना चाहूँगा, वह यह कि

हम में से एक संदस्य कुछ ही दिन पहले प्राथमिक सेवारत् अध्यापकों की एक कार्यशाला में गया वहाँ एक चर्चा के दौरान एक अध्यापक ने कहा कि स्कूल में पढ़ने वाले अधिकतर बच्चे पढ़ना ही नहीं चाहते वह तो बस खेलने और खाने के जिए विद्यालय आते हैं। मुझे यह थोड़ा अटपटा जरूर लगा पर मैंने संवाद को बढ़ाना ही उचित समझा तब मैंने कहा तो क्या हुआ उसकी उम्र। ''वह तो बस खेलने और खाने आते है और वह अधिकतर बच्चे मजदूरों के होते हैं मुझे यह सुनने में अटपटा अवश्य लगा परन्तु मैंने संवाद को आगे बढ़ाते हुए चर्चा जारी रखी तभी उन्होंने पिफर कहा वह बड़े ही गन्दे और हरामी होते हैं और गन्दी-गन्दी गालियाँ निकालते हैं ऐसे बच्चों के साथ हम अपने बच्चों को कैसे पढ़ा सकते हैं पिफर तो हमारे बच्चे भी वैसे ही हो जायेंगे'' जाहिर है।

अध्यापक साहब ने जो भी कहा वह उनकी व्यक्तिगत राय हो सकती है परन्तु उन्होंने जिस लहजे और जिन उपमाओं के साथ कहा उसे एक समाजवादी और समानता पर चलने वाले समाज में उचित नहीं ठहराया जा सकता और जब एक अध्यापक के सन्दर्भ में हो तो यह कतई सही नहीं हो सकता, यह तो केवल बातचीत के दौरान का वर्गान्तर था, वरन् आप समझ सकते हैं कि जब वह विद्यालय में होते होंगे तो उनकी भाषा और व्यवहार उन बच्चों के प्रति कैसा होता होगा जो मूलभूत सुविधओं के अभाव में पहली पीढ़ी के अधिगमार्थी के रूप में पढ़ रहे हैं। मुझे तब और भी अचंभा हुआ जब वहाँ बैठे सभी अध्यापकों ने उस अध्यापक की बातों में हाँ मे हाँ मिलाई, वास्तव में यह समझना अधिक कठिन नहीं हो सकता की शालाओं में पढ़ने वाले बच्चे किस-किस प्रकार की भाषाओं, टिकाओ, टिप्पणियों से दो चार हो रहे होंगे परन्तु उससे उलट अध्यापकों को चाहिए कि वह समझे कि भारत एक बहु सांस्कृतिक देश है और वह जिस विद्यालय में पढ़ाते हैं वह एक भिन्न-भिन्न संस्कृति वाला स्कूल है, जहाँ पर बच्चों की खाने, बैठने, चलने, बोलने, समझने और बात करने की आदते एक जैसी नहीं हो सकती और अधिक व्यापक रूप से तब जब समाज के सबसे निचले तबके जो हाशिए पर जीवन चालित कर रहा है जिसे दो समय का खाना जुटाने के लिए कड़ी मशकत करनी पड़ती है तथा जिनके पास रात गुजारने के लिए बसेरा भी नहीं है उनसे बहुत अधिक अपेक्षाए रखना सही समझदारी नहीं है शायद यह इन अध्यापकों की कुटिल मानसिकता ही है जो मजदूरों के बच्चों को विद्यार्थी नहीं समझते है, मुझे याद है कि मैंने वर्णमाला सीखते हुए 'क्ष' से क्षत्रिय ही पढ़ा था और आज भी वही पढ़ाया जाता है जिससे मेरे मस्तिष्क में क्षत्रिय की तस्वीर बनती है ना कि किसी मजदूर की यह उसी निर्धारित ज्ञान की चाश्नी है जो हमें पंडित शब्द के साथ जी लगाने को मजबूर करती है और यदि जी नहीं लगाया तो मेरी भाषा कुटिल और मुझमें शिष्टाचार नहीं है कि छाप लगा देती है। अब तो वर्ग और हैसियत दोनों समान्तर होते चल रहे है क्योंकि अंग्रेजी भाषा बोलने वाला अधिक शिष्टचारी है और मातृभाषा में बात करने वाला बदतमीज। तभी हमारे समाज में अंग्रंजी के बहुतायत शब्दों का प्रयोग करने के लिए हम बच्चों पर दबाव बनाते हैं यही कारण है कि भाषा वर्ग का परिचायक बनती है तो कही भाषा वर्ग की लकीर खींचती है।

जीरोम ब्रुनर कहते हैं कि बच्चे अपने समाज और संस्कृति को ग्रहण करते हुए बड़े होते है, समाज व संस्कृति उनके सीखने के स्वभाव को निर्धारित करती है। बहुत हद तक उसके इस स्वभाव से निर्धारित होता है कि बच्चा क्या सीखेगा और किन बातों को सीखना उसके लिए आसान होगा। एक शिक्षक के लिए यह महत्वपूर्ण बातें हैं। संस्कृति और शिक्षा के अत:संबंध में भाषा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह एक साधरण बात है, अगर बच्चे को उसकी मातृभाषा में पढ़ाया जाए या मार्गदर्शन किया जाए तो वह उसकी रुचि के अनुसार

चुने गये विषय में अधिक पारंगत होगा। इसके बजाय बच्चे को उसकी मातृभाषा में न पढ़ाया जाए और अन्य भाषा में मार्गदर्शन किया जाए तो उसकी रुचि विषय की जानकारी हासिल करने से हटकर अन्य भाषा को समझने में लग जाएगी। इस अंतरद्वंद से विषय में निपुण होने की बच्चे की संभावनाएँ धूमिल हो जाती है। कुछ लोगों का यह भी मानना हैं कि बच्चे की स्मरण शक्ति वयस्कों से अधिक होती हैं इसलिए बच्चा एक से अधिक भाषाओं को आसानी से ग्रहण कर सकता है। परंतु यह बात अधिक अनुसंधानिक होते हुए भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि बच्चे के स्कूल में प्रवेश लेने का उद्देश्य विषय की जानकारी पाकर उस विषय में निपुण होना होता है, न की अन्य भाषा सीखने के उद्देश्य से स्कूल में प्रवेश लेता है। अगर स्कूल में प्रवेश लेने का उद्देश्य केवल अन्य भाषा सीखना हो तो बच्चों को अवश्य तीन भाषाओं की जानकारी दी जा सकती है। परंतु विषय की जानकारी के लिए बच्चों की मातृभाषा में ही शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए भारतीय संविधान ने कुछ सूचनाएँ दी हैं।

शिक्षा मनुष्य की आंतरिक क्षमता तथा उसके व्यक्तित्व को विकसित करने की प्रक्रिया है। यह उसे समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए समाजीकृत करती है तथा एक उत्तरदायी नागरिक एवं समाज का सक्रिय सदस्य बनाने के लिए व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान तथा कौशल उपलबद्ध कराती है सामाजीकरण की एक प्रक्रिया के अंग के रुप में यह नए सदस्यों के मन में समाज की सांस्कृतिक विरासत मानकों एवं मूल्यों को आत्मसात कराती है। सामाजीकरण यह प्राथमिक तथा अनौपचारिक प्रक्रिया है। जिसके अंतर्गत एक व्यक्ति दूसरों की सामजिक अपेक्षाओं के अनुरुप अपने व्यवहारों को ढालता है। इस प्रक्रिया में वह पूर्णत: समाज के संस्कृतिक और व्यावहारिक नियमों को समझने का प्रयास करता है। उद्देश्य की दृष्टि से भारत में शिक्षा की परिभाषा कुछ इस प्रकार से दी जाती थी। "विद्या के उद्देश्य दो थे: तात्विक दृष्टि से सत्या-सत्य का ज्ञान और व्यावहारिक दृष्टि से कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान जिसके आधार से मानव अपने जीवन विकास में समन्वय करता था और भाव, ज्ञान, कर्मवृत्ति को मौलिक बनाता था। इसका उपयोग वह समाज के कल्याण में ही लगाता था। जिससे वह शिक्षा ग्रहण से पहले यही मान लेता कि समाज का कल्याण ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है। आज शिक्षा की परिभाषा भी बदल कई है। शिक्षा का उद्देश्य समाज से दूर होकर स्वयं के विकास और विशिष्ट वर्ग के विकास के लिए हो चुकी है जिसमे भाषा ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

*****

संदर्भ

- फ्राम, एरिक, द फीयर आफ फ्रीडम, रूटलेज, लंदन, 2001।
- रावत, बीरेन्द्र सिंह, लोकतन्त्र और भाषा शिक्षण: कुछ अंतर-संबंध, शिक्षा विमर्श, जनवरी-फरवरी, 2011, दिगंतर, जयपुर।
- सिंह, पुजा., अभिव्यक्ति की तलाश, अंक1, वर्ष-1, शिक्षा संवाद, जनवरी-जून 2014, नई दिल्ली।
- चंदोरीया, वीरेंदर कुमार, भाषा का व्याकरण, अंक1, वर्ष-1, शिक्षा संवाद, जनवरी-जून 2014, नई दिल्ली
- कुमार, दिनेश, बचपन के कंधों पर डुगडुगी, कोंटेपररी डायलोग, अंक 2-3, वर्ष-1, जुलाई- दिसम्बर,2014, संवाद शिक्षा समिति, नई दिल्ली।
- वोलोशिनोव, वी. एन., माक्र्सवाद और भाषा का दर्शन, राजकमल, दिल्ली, 2002।
- जीरू, हेनरी ए., टीचर्स एज इंटेलेक्चुअलस-टूवडर्् ए क्रिटीकलपेड़ागागी आफ लर्निंग, वर्जिन एवं गार्वे, लंदन, 1988।